टकर्त्ताभाव

प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़,

पूर्व कुलपति सिंघानिया विश्वविद्यालय, राजस्थान

आत्मा गुणों का पुंज है। आत्मा सुख और आनन्द का खजाना है। गीता में अनासक्त कर्म की शिक्षा दी गयी है। मन, वचन और काया बिना हम कर्म नहीं कर सकते। हर मनुष्य कोई न कोई कर्म प्रतिक्षण करता रहता है। शयनकाल में भी मन कार्य करता रहता है। जीवन में कोई ऐसा क्षण नहीं है जिसमें हम कर्म न करें। फल के लिए काम नहीं करना चाहिए यह गीता का उपदेश है। यदि कर्म अच्छा है तो फल भी अच्छा होगा। यदि कर्म बुरा है तो परिणाम भी बुरा ही होगा। अच्छे और बुरे कर्म दोनों बंधन के कारण होते हैं। जंजीर चाहे सोने की हो या लोहे की बांधने में दोनों का उपयोग है। कर्म चाहे अच्छा हो या बुरा दोनों बंधन के कारण होते हैं। जो कार्य निःस्वार्थ भाव से किया जाता है, जिसमें कर्त्तापन का अहंकार नहीं रहता वही कार्य श्रेयष्कर है। मैं और मेरेपन का भाव अहंकार का मूल है। ऐसा कार्य कर्त्ताभाव को जन्म देता है।

मानव का अस्तित्व शरीर के पीछे नहीं है। हमारा अस्तित्व आत्मा पर निर्भर है। जो दर्शन कर्म और पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं वे आत्मा पर भी विश्वास करते है। चार्वाक दर्शन आत्मा पर विश्वास नहीं करता। उसका मानना है कि शरीर के साथ–साथ चेतना भी नष्ट हो जाती है। चार्वाक दर्शन चेतना को भी पंचभूतों से उत्पन्न मानता है। उसका कहना है कि जैसे विभिन्न प्रकार के भौतिक पदार्थों के संयोग से शराब में मादकता उत्पन्न हो जाती है वैसे ही भौतिक पदार्थों के संयोग से चेतना की उत्पत्ति हो जाती है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। जैनदर्शन का आत्मवाद के सिद्धान्त को मानता है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा शरीरव्यापी है। चींटी के शरीर में आत्मा और हाथी के शरीर में व्याप्त आत्मा शरीर के अनुसार सिकुड़ती और फैलती रहती है।

यह विश्व छह द्रव्यों की रचना है। इसमें दो प्रकार के जीव हैं– 1. मुक्त जीव 2. संसारी जीव। मुक्त जीव को परमात्मा, ईश्वर, सर्व शक्तिमान, सिद्ध, शुद्ध जीव, आदि नामों से जाना

जाता है। इन मुक्त जीवों के अतिरिक्त सभी जीव संसारी जीव हैं। जैन दर्शन के अनुसार संसार में जितने शरीर हैं उतने जीव हैं। जैन दर्शन में जीव का लक्षण, उपयोगमय, कर्त्ता, स्वदेह परिणामी, संसारी रूप में बताया गया है। जीव का उपयोग लक्षण चेतना है। विश्व में कोई भी ऐसा जीव या प्राणी नहीं है, जिसमें चेतना विद्यमान न हो अर्थात अस्तित्व के रूप में प्रत्येक जीव चेतनयुक्त है। समस्त जीवों में विकास की क्षमता समान होती है लेकिन पुरुषार्थ के कारण ही कम विकसित या अधिक विकसित जीव दिखाई देते हैं। सम्पूर्ण संसार जीवों से भरा है। संसार में जन्म लेने वाला जीव अज्ञान के कारण ऐसे कर्मों का अर्जन करता है जिसके कारण उसे बंधन ग्रस्तता प्राप्त होती है इसलिए जैन दर्शन में प्रत्येक जीव अपने कर्मों का स्वयं जिम्मेदार है और कर्म के परिणामों की भी जिम्मेदारी स्वयं उसकी है यह जीव का कर्त्ता–भोक्तापन की विशेषता है। कर्त्तृत्व व भोक्तृत्व संसारी जीव में ही पाया जाता है। अतः जब तक काम, क्रोध, मद, लोभ जैसे कषाय आत्मा के साथ रहेंगे बंधन होगा ही क्योंकि इससे आत्मा में कर्त्ताभाव जाग्रत हो जाता है। बंधन का कारण कर्त्ताभाव है। मैं और मेरा का अहंकार कर्त्ताभाव है।

दार्शनिक दृष्टि से यदि हम चिंतन करे तो बंधन और मुक्ति जीव के लिए है। कर्मों का बंधना बन्धन है। जो बंधे या जिसके द्वारा बांधा जाये या बन्धन मात्र को बन्ध कहते हैं। कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह बन्ध हैं। कर्म प्रदेशों का आत्मप्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह हो जाना, बन्ध है। मिथ्यादर्शनादि द्वारों से आए हुए कर्म पुद्गलों का आत्मप्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह हो जाना बन्ध है। जैसे बेड़ी आदि से बंधा हुआ प्राणी परतन्त्र हो जाता है और इच्छानुसार देशादि में नहीं आ–जा सकता, उसी प्रकार कर्मबद्ध आत्मा परतन्त्र होकर अपना इष्ट विकास नहीं कर पाता। अनेक प्रकार के शरीर और मानस दुःखों से दुःखी होता है। राग–द्वेषादि के निमित्त से जीव के साथ पौद्गलिक कर्मों का बन्ध निरन्तर होता है। जीव के भावों की विचित्रता के अनुसार वे कर्म भी विभिन्न प्रकार की फलदान शक्ति को लेकर आते हैं, इसी से वे विभिन्न स्वभाव या प्रकृति वाले होते हैं।

सांसारिक जो विषय–सामग्री है वह, और उसका जो भोक्ता है आत्मा ये दोनों संयोग होते ही बन्ध हो जाते हैं। कर्म पुद्गलों के ग्रहण को बन्ध कहा जाता है। जीव के द्वारा कर्म पुद्गलों

के ग्रहण का क्षीर–नीर की भांति परस्पर आश्लेष होता है, उसे बन्ध कहा जाता है। वह प्रवाहरूप से अनादि और जो भिन्न–भिन्न कर्म बंधते रहते हैं, उनकी अपेक्षा सादि है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति, ये सब कर्मों के आने के द्वार होने से आस्रव हैं। इनसे विपरीत सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, मोह व कषायहीन शुद्धात्म परिणति तथा मन, वचन, काय के व्यापार की निवृत्ति ये सब नवीन कर्मों के निरोध के हेतु होने से संवर हैं। आस्रव का निरोध करना ही संवर है। जिनसे कर्म रुकें, कर्मों का रुकना संवर है। कर्मरज आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है। कर्मरजों का आत्मा से पृथक् होना ही मुक्ति है।